ईशोपनिषद्

5.2

म्हें बताएं

सर्कस का

पे शुरू हुआ।
तरी शताब्दी में
सका नाम था
र्कस होने के
ा। इसमें एक
ा बैठ सकते
'' रोमवासियों का यह सर्कस आज के
र्कस की तरह ही खुले मैदान में होता था।
आजकल की तरह ही मिठाई वाले,
दार्थ वाले और अन्य व्यापारी भी
नी दुकानें लगाते थे। बस एक फर्क था
कि इन सर्कसों में प्रवेश शुल्क नहीं लगता
था क्योंकि इस बहाने राजा इनमें अपनी
प्रजा से भी मिल लेते थे। प्रजा को खुश
रखने की ये एक अच्छी तरकीब भी बन
गई।

धीरे-धीरे रोम में प्रचलित अन्य खेल
भी सर्कस के हिस्से बनते गये। कुछ
कम्पनियों ने हंसाने के लिए विदूषकों को
रखा और रस्सी पर चलने वाले नटों पर
पशु पालकों को रखा तो कुछ ने मुक्केबाज
भालुओं को रखा। इसके अलावा दौड़ों में
भी परिवर्तन किये जाने लगे। जैसे एक
साथ दो घोड़ों पर सवार दौड़ते हुए एक
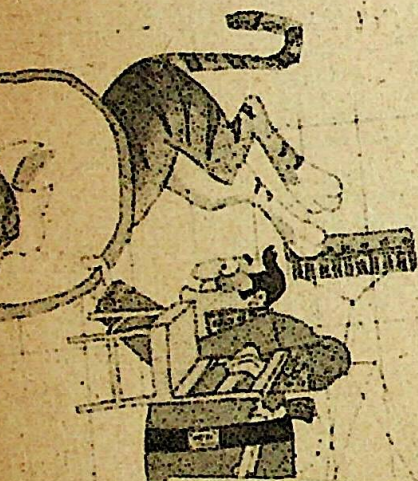
ईशोपनिषद्

व्याख्याकार—

श्री मिश्रीलाल जी, ऐडवोकेट
(अलीगढ़)

प्रथम संस्करण 1000 | सन् १९५९ ई० | मूल्य ५० न.पै.

प्राक्कथन

हिन्दू शास्त्रों में वेद सर्वोपरि हैं। उनको ईश्वर का वचन कहा गया है। वे किसी पुरुष के रचे हुए नहीं हैं, उन्हें अपौरुषेय कहते हैं। वेदों के तीन विभाग हैं, एक कर्मकाण्ड विभाग जिसमें यज्ञादि कर्मों का विधान है और दूसरा उपासना काण्ड जिसमें ईश्वर और ब्रह्म की उपासना के मंत्र हैं। तीसरा विभाग ज्ञान काण्ड का है जिसमें उपनिषदों की गणना है और जिसमें ब्रह्म तथा आत्मा का स्वरूप, जगत और माया की असारता तथा ज्ञान को ही मोक्ष और निर्वाण का मार्ग बतलाया है।

वेदों के ज्ञान का प्रसार ऋषियों ने किया था जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि वेदों की अनेक शाखाऐं बन गईं और वे अपने अपने ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हुईं। उन सबमें मूल ज्ञान तो एक ही था जो वेदों से लिया गया था, परन्तु ऋषियों की शिक्षाप्रणाली के भेद से उनमें भेद हो गये। इस प्रकार ऋग्वेद की २१ (इक्कीस) शाखायें, यजुर्वेद की १०९ (एक सौ नौ), सामवेद की १००० (एक सहस्त्र) और अथर्ववेद की ५० (पचास) सब मिल कर ११८० (एकसहस्त्र एकसौ अस्सी) शाखायें हुईं और प्रत्येक शाखा ने अपनी अपनी एक एक उपनिषद् निश्चित की जो वेद के ज्ञान विभाग का प्रधान अङ्ग समझी जाती हैं। इन ११८० उपनिषदों में दश उपनिषदें— ईश, कठ, केन, मण्डूक, माण्डूक्य, एतरेय, तैत्तरीय, प्रश्न, छान्दोग्य और बृहदारण्यक प्रधान उपनिषदें हैं। शेष में बहुत सी पीछे की रची हुई प्रतीत होती हैं और कुछ प्राचीन हैं। मुक्तकोपनिषद् में १०८ (एक सौ आठ) उपनिषदों के नाम गिनाये हैं। अतः १०८ उपनिषदें

अधिक प्रामाणिक हैं जिनमें उपर्युक्त दश प्रधान उपनिषदें भी सम्मिलित हैं। परन्तु उन सबमें केवल ईशोपनिषद् ही ऐसी उपनिषद् है जो वेद के मंत्र भाग का अङ्ग है, शेष वेदों के आरण्यक और ब्राह्मण भागों से ली गई हैं अथवा स्वतंत्र हैं और वे अपनी अपनी शाखाओं की प्रधान उपनिषद् मानी जाती हैं। कुछ उपनिषदें तो अर्वाचीन मालूम होती हैं जो कतिपय सम्प्रदायों ने रचलीं हैं। कुछ पौराणिक हैं। एक उपनिषद् अकबर बादशाह के समय में दीनइलाही द्वारा बनाई गई जिसका नाम 'अल्लाहोपनिषद्' है।

ईशोपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की, वाजसनेय माध्यन्दिनी शाखा की, उपनिषद् है जिसे वाजसनेय उपनिषद् भी कहते हैं और वह शुक्ल यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। परन्तु वहाँ उसमें केवल सत्रह मंत्र हैं। प्रचलित ईशोपनिषद् में अठारह मंत्र हैं जिनमें से सोलहवाँ मंत्र यजुर्वेद में नहीं है। उस मंत्र का केवल अन्तिम पद 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि' किञ्चित् परिवर्तन के साथ अर्थात् 'योऽसावासावादित्ये पुरुषः सोऽहमस्मि' के रूप में यजुर्वेद के मंत्र १५ के उत्तरार्द्ध में मिलता है जो प्रचलित उपनिषद् का भी मंत्र १५ है, परन्तु वहाँ मंत्र १५ का केवल पूर्वार्द्ध है प्रचलित उपनिषद् के मंत्र १५ के उत्तरार्द्ध 'तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये' के स्थान पर यजुर्वेद में 'योऽसावासा वादित्ये पुरुषः सोऽहमस्मि' दिया हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रचलित ईशोपनिषद् के मन्त्र १२. १३, १४ यजुर्वेद में पहिले और मन्त्र ९, १०, ११ पीछे वर्णित हैं और मंत्र १५, १७, १८ का भी क्रम बदला हुआ है। यजुर्वेद में प्रचलित ईशोपनिषद् का मन्त्र १५ उपर्युक्त अन्तिम पद के परिवर्तन के साथ अन्त में दिया गया है। जहाँ उसकी क्रम संख्या १७ है और प्रचलित उपनिषद् के मन्त्र १७ में दुबारा आने वाले 'क्रतोस्मरे' शब्दों के स्थान में 'क्लिवे स्मर' शब्द दिये हुए हैं। शेष मन्त्र यथावत् हैं।

शङ्कराचार्य आदि भाष्यकारों ने अठारह मन्त्रों की प्रचलित ईशोपनिषद् ही पर अपना भाष्य लिखा है। इस प्रकार यजुर्वेद में वर्णित सत्रह मन्त्रों की भी व्याख्या हो जाती है। हमने भी इस पुस्तक में प्रचलित उपनिषद् की ही व्याख्या की है।

ईशोपनिषद् यद्यपि एक छोटी सी अठारह अथवा सत्रह मंत्रों की उपनिषद् है परन्तु इसकी मान्यता इस कारण भी अधिक है कि इसमें ज्ञान, कर्म और उपासना के समस्त सिद्धान्तों के सार का निचोड़ आ जाता है। इसमें जीवन के व्यावहारिक पक्ष की भी उपेक्षा न करके ईश्वर और जगत् दोनों का महत्त्व अपने अपने स्थान पर दिखलाया है और इस प्रकार जीवन और मरण के रहस्य का दिग्दर्शन और व्यवहार में उनका स्थान बतलाते हुए प्रधान आत्म तत्त्व का ज्ञान और तदनुसार मोक्ष प्राप्ति की साधना के अङ्गों पर प्रकाश डाला है।

'साधन' पत्र के सुयोग्य सम्पादक पण्डित मिहीलाल जी के आदेशानुसार इस उपनिषद् की व्याख्या पहिले क्रमशः 'साधन' के अङ्कों में प्रकाशित हुई। वही अब पुस्तकाकार में पाठकों की सेवा में प्रस्तुत की जाती है।

इस उपनिषद् पर जो भिन्न भिन्न भाष्य लिखे गये हैं उनमें बहुधा भाव और अर्थ की भिन्नता पाई जाती है। अपने अपने विचार के अनुसार वे सब ही ठीक हैं। प्रस्तुत व्याख्या में भी जहाँ तहाँ स्वतंत्र विचार मिलेंगे। यदि उनसे पाठकों को सन्तोष हुआ तो व्याख्याकार अपने को कृतार्थ समझेगा।

—भिखीलाल

अलीगढ़,
बसन्त पञ्चमी, सं० २०१५ वि०।

ईशोपनिषद्

शान्तिपाठ का मंत्र

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदुच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रत्येक उपनिषद् के आदि और अन्त में एक मंत्र शान्तिपाठ का रहता है। प्रारम्भ में शान्तिपाठ से शुभारम्भ की कामना का और अन्त में उसी मंत्र को दुहराने से शान्तिपूर्वक विसर्जन का लक्ष्य रहता है।

शब्दार्थ—(ओं) यह ब्रह्मवाचक शब्द है जो प्रत्येक वेदमंत्र के साथ पहिले उच्चारण किया जाता है। (पूर्णं) भरपूर, सर्वत्र व्यापक जिस का अन्त नहीं, (अदः) वह ब्रह्म अथवा ईश्वर से और (पूर्णं) सर्वत्र व्यापक, (इदं) यह जगत भी है, (पूर्णात्) पूर्ण में से, (पूर्णं) पूर्ण उत्पन्न हुआ कहा जाता है, (पूर्णस्य) पूर्ण में से, (पूर्णम्) पूर्ण को, (आदाय) निकालने पर भी, (पूर्णं) पूर्ण, (एव) ही, (अवशिष्यते) शेष रह जाता है।

भावार्थ-ईशोपनिषद के शान्तिपाठ का यह मन्त्र भी अन्य उपनिषदों के शान्तिपाठों की अपेक्षा एक प्रकार की विशेषता रखता है। ब्रह्म की व्यापकता और अनन्तता का भाव दर्शाने वाली इस मंत्र से अधिक महत्वपूर्ण दूसरी व्याख्या नहीं हो सकती। इसका अर्थ है कि ब्रह्म पूर्ण है, परिपूर्ण है उससे अधिक पूर्णता और किसी में नहीं है। यहाँ पर पूर्णता का आशय अनन्तता है, अर्थात् ब्रह्म की व्यापकता का अन्त नहीं और न उसकी शक्ति तथा ज्ञान का अन्त है। यह जो कुछ जगत् के रूप में आकाशादि की अनन्तता अथवा पूर्णता प्रतीत होती है वह भी ब्रह्म की अनन्तता अर्थात् पूर्णता के अन्तर्गत है। उस ब्रह्म की पूर्णता में से यदि इस जगत् की पूर्णता निकाल लें तब भी ब्रह्म की पूर्णता और अनन्तता में कोई अन्तर नहीं आवेगा। वह अनन्तता ज्यों की त्यों बनी रहेगी।

गणित के जानने वाले पाठक भलीभांति जानते हैं कि एक अनन्त संख्या में से, जिसे अँग्रेजी में इनफिनिटी और संस्कृत में खहर संख्या कहते हैं, कितनी ही बड़ी संख्या निकाल लीजिये खहर संख्या की अनन्तता में कोई कमी नहीं आवेगी। यदि अन्तर आगया तो उसका अनन्त नाम ही व्यर्थ हो जायगा।

संस्कृत के खहर शब्द से अनन्त संख्या का अनुमान भली भांति किया जा सकता है। 'ख' का अर्थ है शून्य। 'हर' उस संख्या को कहते हैं जिसका किसी दूसरी संख्या में भाग दिया जावे और जिसमें भाग दिया जाय उस संख्या को 'अंश' कहते हैं। '$\frac{१५}{३}$' (पन्द्रह बटा तीन) में १५ 'अंश' संख्या और ३ 'हर' संख्या है। १५ में से ३ को हम पाँच बार निकाल सकते हैं और

यदि 'हर' की संख्या १ (एक) हो तो उसमें से एक को पन्द्रह बार निकाल सकते हैं। तत्पश्चात् अंश की संख्या समाप्त हो जायगी। परन्तु यदि पन्द्रह के नीचे 'हर' की संख्या शून्य (०) हो तो उसमें से शून्य को चाहे अनन्तबार निकाल लीजिये 'अंश' की संख्या में कभी कमी नहीं आवेगी और १५ में शून्य का भाग देने पर भजन फल की भी एक अनन्त संख्या होगी। अतः जैसे अनन्त संख्या में अनन्त बार किसी संख्या को घटाने से अनन्त संख्या ज्यों की त्यों बनी रहती है उसी प्रकार अनन्त ब्रह्म में से जिसे दूसरे शब्दों में परिपूर्ण ब्रह्म कहते हैं जगत् की अनन्तता को कम कर देने पर भी ब्रह्म की अनन्तता में कोई अन्तर नहीं आता। इस तथ्य का एक स्पष्ट भावार्थ यह भी है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् यह सब जगत् भी ब्रह्म ही है, क्योंकि दो अनन्त एक स्थान पर नहीं रह सकते। यदि एक ब्रह्म ही सर्वत्र पुरा हुआ (पूर्ण) है अर्थात् व्यापक है तो किसी दूसरी वस्तु के लिये कहाँ अवकाश मिल सकता है ? अतः जगत् और ब्रह्म अलग अलग दो भिन्न वस्तुएं नहीं, दोनों एक ही हैं। जगत् भी ब्रह्म है वह ब्रह्म की अपरा प्रकृति का स्वरूप है। गीता में भी कहा है:—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेवच।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयन्त्वितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययदं धार्यते जगत्॥

(अ० ७ श्लो० ४, ५,)

अर्थात्—पंचभूत और मन, बुद्धि, अहंकार से रचा हुआ यह जगत् मेरी (ब्रह्म की) अपरा प्रकृति का स्वरूप है जिसमें

जीवत्व ब्रह्म की परा प्रकृति का अंश है इस परा प्रकृति रूपी चेतन अंश ही से समस्त जगत की स्थिति है।

पुनः कहा है:—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याऽहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(अ० ६ श्लो० ३०)

अर्थात् जो सब में (सर्वत्र) मुझको देखता है और मुझ में सबको देखता है अर्थात् समस्त जगत् को मुझ में देखता है वह मेरा है और मैं उसका हूँ। अथवा यों कहिये कि मैं वह हूँ और वह मैं है, मुझमें और उसमें कोई भेद नहीं। यह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का भाव है।

उसी परिपूर्ण ब्रह्म का दर्शन ईशोपनिषद में कराया गया है और आरम्भ में शान्ति पाठ के अन्त में तीन बार शान्तिः शान्तिः शान्तिः कह कर यह मंगल कामना की गई है कि ईशोपनिषद के पढ़ने, सुनने, मनन और निदिध्यासन करने वालों के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार के तापों का शमन (नाश) होवे।

मंत्र भाग

ओं ईशावास्यमिद॰ सर्वं यत्किञ्चजगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्‌ धनम् ॥१॥

इस मंत्र के पूर्व में 'ओं' शब्द लगा हुआ है। वेद पाठ का नियम है कि प्रत्येक वेद मन्त्र के पहिले 'ओं' का उच्चारण किया जावे। अतः इस मन्त्र में और इसी प्रकार अन्य मन्त्रों के पूर्व में भी 'ओं' का प्रयोग करना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है:---

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

(अ० १७ श्लोक २४)

अर्थात् ब्रह्म की अनन्तता, व्यापकता, परिपूर्णता और अद्वैतता में विश्वास रखने वाले ज्ञानियों के यज्ञ, दान, तप, आदि की समस्त क्रियायें तत्सम्बन्धी मन्त्रों के पूर्व ॐ जो ईश्वर का नाम है उसके उच्चारण के साथ प्रारम्भ होती हैं।

शब्दार्थ--(ईश) ईश्वर द्वारा, (आवास्यं) बसा हुआ, व्यापक अथवा आच्छादित; (इदं) यह, (सर्वं) समस्त, (जगत्यां) चलती फिरती, आने जाने वाली, प्रतिक्षण परिवर्तन शील सृष्टि में, (जगत्) संसार, (तेन त्यक्तेन) उस ईश्वर के द्वारा दिये हुए भोग से अथवा उस परिवर्तनशील जगत् का त्याग करते हुए, (भुञ्जीथाः) आनन्द भोगो, (मा) मत, (गृधः) लालच करो, (कस्यस्विद्) किसी के धन का, अथवा संसार का यह धन अथवा चमत्कार किसका है ?

भावार्थ--यह समस्त सृष्टि अथवा जगत् जो चलता फिरता, आने जाने वाला और प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, पूर्णरूप से, सब ओर ब्रह्म द्वारा व्याप्त है, अर्थात् ब्रह्म ही उस में परिपूर्ण रूप से बसा हुआ है। उसी के द्वारा जो कुछ संसार में मिले उसी में सन्तोष करो और प्रसन्न रहो, किसी अन्य के धन की ओर लालच की दृष्टि से मत देखो। मन्त्र के उत्तरार्द्ध का यह अर्थ भी है कि ईश्वर से व्याप्त, परिपूर्ण जगत का जो अंश है उसे त्यागते हुए ब्रह्म के अंश में आनन्द लो, इस नाशवान जगत में किसी प्रकार का लोभ अथवा मोह मत करो। यह धन, सम्पत्ति और चमत्कार जो संसार में दिख-लाई पड़ रहा है किसका है ? अर्थात् किसी का नहीं है।

इस मन्त्र के उपर्युक्त अर्थ से यह स्पष्ट है कि यह मन्त्र ब्रह्म की व्यापकता का वही भाव दिखला रहा है जिसका कि संकेत 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इत्यादि शान्ति पाठ के मन्त्र में हुआ है। उसके साथ ही प्रथम मन्त्र यह भी बतला रहा है कि यह जगत भी ब्रह्म ही का स्वरूप है। परन्तु यह स्वरूप जो साकार रूप में प्रगट हो रहा है प्रतिक्षण बदलने वाला और परिवर्तन शील है। अतः इसके ऊपर भरोसा मत करो। यहां तो जो आवे उसे आने दो, जो जाय उसे जाने दो। यहां की कोई वस्तु स्थिर नहीं। किसी अवस्था में मोह अथवा शोक मत करो। सदैव और सर्वथा प्रसन्न रहो। यह जगत का चमत्कार किसी के पास नहीं रहेगा। इसमें लिप्त होना अपने आपको संसार के बन्धन में डालना है।

प्रथम मंत्र में यह बतला कर कि जो ईश्वर सर्व व्यापक है और सबके भीतर अन्तर्यामीरूप से विराज रहा है उसने जो कुछ जिसको दे रखा है, अथवा प्रकृति द्वारा जो कुछ जिसको

मिल रहा है उसे वह संतोष और प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करे, औरों के ऐश्वर्य को देख कर मन को न ललचावे, अर्थात् निष्काम भावना रखे दूसरे मंत्र में यह उपनिषद् उपदेश करती है:—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत॰ समाः
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

शब्दार्थ—(कुर्व्वन्) करता हुआ, (एव) ही (इह) इस संसार में अथवा अपने जीवन में (कर्माणि) कर्मों को, (जिजीविषेत्) जीने की इच्छाकरे, (शतं) सौ, (समाः) वर्ष, (एवं) इस प्रकार, (त्वयि) तुझ में, (न) नहीं, (कर्म) तेरा किया हुआ कर्म, (लिप्यते) लिपटता है, (नरे) मनुष्य में।

भावार्थ—संसार में जो कुछ तुझे मिला है उसमें सन्तोष करके प्रसन्नता पूर्वक निष्काम भाव से कर्म करता हुआ यदि तू जीवन व्यतीत करे तो तेरी पूर्ण आयु आनन्द से बीतेगी, और जोकर्म तू करेगा वे निष्काम होने के कारण तुझ को आगे जन्म लेनेके लिये बांधेंगे नहीं और तुझे मरने के पश्चात् मोक्ष प्राप्त हो जायगा, और तुझे आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार हो जायगा।

आगे तीसरा मंत्र बतलाता है कि जो मनुष्य प्रथम और द्वितीय मंत्र के उपदेश के अनुसार आचरण नहीं करता है उसकी, आत्मज्ञान से बंचित रह जाने के कारण, क्या दशा होती है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

शब्दार्थ—(असुर्याः) असुरों के रहने के योग्य, (नाम) अवश्य ही, (ते) वे, (लोकाः) लोकों को, (अन्धेन तमसा) घोर अन्धकार से, (आवृत्ताः) ढके हुओं को, (तान्) उनको, (ते) वे मनुष्य, (प्रेत्य) मरने के पश्चात्, (अभिगच्छन्ति) जायेंगे, (ये) जो (के) कोई (आत्महनः) आत्मा का हनन करने वाले (जनाः) मनुष्य हैं।

भावार्थ—जिन मनुष्यों ने लोभ और लालच रहित होकर फलाकांक्षा को त्याग कर केवल कर्तव्य बुद्धि से अपने जीवन में कर्म नहीं किए अथवा नहीं करते हैं और इस प्रकार वेद की आज्ञा का पालन नहीं करते वे आत्मज्ञान से वंचित रह जाते हैं और अपनी आत्मा का हनन करते हैं। (आत्मा तो अविनाशी है उस का हनन हो ही नहीं सकता। अतः यहाँ पर आत्मा का न पहिचानना ही आत्महनन माना गया है)। ऐसे मनुष्यों को मरने के पश्चात् असुर, राक्षस और पिशाचों के रहने योग्य घोर अन्धकार और अज्ञान से भरी हुई योनियाँ मिलती हैं। ऐसी योनियाँ ही असुरों के रहने योग्य लोक हैं।

इसके आगे वह उपनिषद् बतलाती है कि आत्मज्ञान का क्या स्वरूप है जिसके प्राप्त हो जाने पर मोक्ष, और न प्राप्त होने पर मनुष्य को आत्महत्यारा बन कर असुरों की योनियाँ मिलती हैं।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा: प्राप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा
दधाति ॥४॥

शब्दार्थ—(अनेजत्) न चलता हुआ, (एक) सर्वत्र एक ही, (मनसः) मन से भी अधिक, (जवीय) तेज चलने वाला, (न)नहीं, (देवाः) चक्षुआदि इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता: (प्राप्नुवन्) प्राप्त कर सके, (पूर्व)आगे, (अर्षत्) गये हुए को (तत्) वह आत्मा, (धावतः) दौड़ते हुए, (अन्यान्) औरों को (अत्येति) पार कर के आगे निकल जाता है, (तिष्ठत्) बैठा हुआ. (तस्मिन्) उसकी शक्ति में अर्थात् उसकी शक्ति द्वारा (अपः) जलों को, (मातरिश्वा) वायु, (दधाति) धारण करती है ।

भावार्थ—इस मन्त्र में आत्मा की सर्वत्र व्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता दिखलाई है। सर्वव्यापकता का उत्तम प्रमाण यही है कि मन के समान अधिक से अधिक चलने वाली शक्ति भी जो सैकण्डों में ब्रह्माण्ड के दूर से दूर स्थान तक पहुँच सकती है उससे भी अधिक द्रुत और तीव्र गति आत्मा की है क्योंकि जहाँ मन के सहायक इन्द्रियों के देवता तेजी से दौड़ कर जाना चाहते हैं वहां आत्मा बैठा हुआ ही, अर्थात् बिना चले हुए ही, पहिले से पहुँच जाता है। यह एक अलङ्कारिक शैली आत्मा की सर्वव्यापकता वर्णन करने की है। आत्मा का बैठे हुए ही सबसे आगे निकल जाने का भाव यह है कि वह सर्व व्यापक होने के कारण सर्वत्र पहिले ही से मौजूद है। कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ

आत्मा का अस्तित्व न हो। अतः दौड़कर उससे आगे कौन जा सकता है?

आत्मा की सर्वव्यापकता वर्णन करने की इस शैली में साकार दृष्टि से एक शङ्का उठती है। 'बिना चले सब चलने वालों और तेज दौड़ने वालों से आगे निकल जाय' इन शब्दों में परस्पर विरोध मालूम होता है। परन्तु यहाँ पर वाच्यार्थ (लफ़्ज़ी मानी) न लेकर लक्ष्यार्थ अर्थात् भाव लिया गया है। गुसाईं तुलसीदास के वचन कि:—

'बिन पद चलै सुनै बिनु काना,
कर बिनु कर्म करै विधि नाना।'

इत्यादिभी ऐसा ही भावार्थ लेने का संकेत करते हैं।

सर्वव्यापकता के साथ इस मन्त्र में आत्मा का सर्व शक्तिमान होना भी दिखलाया गया है। जो बिना चले सबसे अधिक दौड़ने का फल दिखला सकता है, जो सर्व व्यापक होकर सबको चला रहा है, और सबको सब कुछ दे रहा है, सब में जिसकी शक्ति है, एवं गुसाईं तुलसीदास के शब्दों में जो बिना पैरों के चल सकता है, बिना कानों के सुन सकता है, बिना हाथों के हाथों का काम कर सकता है। उसकी शक्तियों का कोई क्या अनुमान कर सकता है। आत्मा में ये सब शक्तियाँ अनन्त हैं और अचिन्त्य हैं। उस की शक्तियों की अनन्तता और अचिन्त्यता का इस मन्त्र में केवल एक उदाहरण देकर आत्मा की सर्व शक्तिमत्ता का परिचय दिया है। वह यह है कि अन्तरिक्ष (आकाश) में पानी बादलों के रूप में ठहरा रहता है। गर्मी से भाप बन कर ऊपर जाता है और वायु द्वारा ठहर कर मेघों के रूप में वृष्टि करता है, जिससे अन्न उत्पन्न होकर प्रजा का पालन

होता है। यह अन्तरिक्ष में साधे रहने की शक्ति वायु में होना, जिससे वृष्टि होकर अन्न द्वारा प्रजा का पालन होता है सर्व व्यापक आत्मा ही की शक्ति है। आत्मा ही वायु रूप में जल का आधार बना हुआ है और आत्मा ही जल के रूप में वायु का आधेय है, अर्थात् जल और वायु में सब प्रकार की शक्ति आत्मा ही की है। 'तस्मिन्नपो मातरिश्वादधाति' का अन्तिम पद भी यह बतलाता हुआ कि वायु भी जल को आत्मा की शक्ति से धारण करता है समस्त पांचों तत्वों के सम्बन्ध में आत्मा की शक्ति द्वारा उनके शक्तिमान् होने का संकेत करता है।

इसी भाव की पुष्टि में आगे का मंत्र ५ है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

शब्दार्थ—(तत्) वह, (एजति) चलता है, (तत्) वह, (न) नहीं, (एजति) चलता है, (तत्) वह, (दूरे) दूर है, (तत्) वह, (उ) ही, (अन्तिके) निकट है, (तत्) वह, (अन्तः) भीतर है, (अस्य) इस जगत्, (सर्वस्य) समस्त के, (तत्) वह, (उ) ही, (सर्वस्य) सबके, (बाह्यतः) बाहर है।

भावार्थ—वह आत्मा जो अनिर्वचनीय है, चलता भी है और नहीं भी चलता है। निकट भी है और दूर भी है। सबके भीतर भी है और बाहर भी है, इत्यादि शब्दों से आत्मा की सर्व व्यापकता और सर्व शक्तिमत्ता के साथ उसकी सर्वज्ञता भी प्रगट होती है। सबके भीतर होने का भाव है कि वह सबके मनों और संकल्पों के भीतर रहता हुआ सबके हृदय की भावनाओं तक का जानने वाला है और इसी प्रकार सबके बाहर रहने का आशय है

कि जो कुछ बाहर हो रहा है उसे भी वह पूर्णतया जानता है। सबके भीतर और बाहर के सम्बन्ध में तो 'सर्वस्य' अर्थात् 'सबके' यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। परन्तु वह दूर है और निकट है यहाँ सबके निकट अथवा सबके दूर नहीं कहा गया। जिसका अभिप्राय है कि वह दूर तो उनसे है जो आत्मा का ध्यान और स्मरण नहीं करते प्रत्युत उसके विमुख चलते हैं उनको आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। और निकट उनके है जो आत्मा का चिन्तन और स्मरण करते हैं। उनको आत्मा सहज ही प्राप्त हो जाता है।

आत्मज्ञान के लिये आत्मा का यह स्वरूप हृदयंगम होना आवश्यक है।

मंत्र ४ और ५ द्वारा आत्मा को सर्व-व्यापक और सर्व शक्तिमान् के रूप में दिखलाकर आगे के तीन मंत्रों द्वारा उसी आत्मा को जो व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक के भीतर पृथक पृथक प्रतीत होता है समष्टि रूप से एक ही परमात्मा के स्वरूप में सर्वगत सिद्ध किया है और संकेत किया है कि इसी प्रकार का, आत्मा के सर्वव्यापक अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य कृतार्थ हो जाता है और इसी ज्ञान से वञ्चित रहकर वह अपनी आत्मा का हनन करता है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजिगुप्सते ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—(यः) जो, (तु) भी, (सर्वाणि) सब, (भूतानि) चराचर जगत् को, (आत्मनि) अपने में अर्थात् आत्मा में, (एव) ही, (अनुपश्यति) सदैव देखता है, (सर्व

भूतेषु) सब चराचर जगत् में, (च) और, (आत्मानं) आत्मा को अर्थात् अपने आपको देखता है, (ततः) इस कारण (न) नहीं, (विजिगुप्सते) घृणा करता है।

भावार्थ—जो मनुष्य समस्त स्थावर और जंगम जगत में अपने आपको समझता है, सबके दुःख में अपने आपका दुःखी और सबके सुख में अपने आपको सुखी मानता है, किसी प्रकार से भी और कहीं भी किसी प्राणी अथवा वस्तु और अपने आप में भेद नहीं पाता, अर्थात् निर्विशेष आत्मा की ऐसी सर्व व्यापकता में जिसकी बुद्धि है वह किसी के साथ भी अपने पराये का भेद किस प्रकार रख सकता है ? और जब भेद ही नहीं तो किसी को बुरा क्यों कर समझ सकता है और क्यों कर किसी से घृणा कर सकता है ? घृणा और बुरे भले का भाव तो भेद दृष्टि में हो सकता है। अभेद दृष्टि में उसकी संभावना ही नहीं।

प्रत्येक स्थावर और जंगम पदार्थ में मैं ही हूँ, कोई मुझसे भिन्न नहीं—इस प्रकार व्यक्तिगत आत्मा का सर्वगत रूप दिखलाता हुआ यह मंत्र सिद्ध करता है कि आत्मा और परमात्मा में भी परमार्थतः कोई भेद नहीं और संकेत करता है कि जिज्ञासु को आत्मा का ऐसा ही ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

शब्दार्थ—(यस्मिन्) ऊपर वर्णित अभेद भाव रखने वाली आत्मा में जब, (सर्वाणि) समस्त, (भूतानि) चराचर जगत्,

(आत्मा) अपना आप, (एव) ही, (अभूत) होगया, (विजानतः) भले प्रकार जानने वाले का, (तत्र) तब वहाँ पर (कः) कौन, (मोहः) मोह, (कः) कौन, (शोकः) शोक हो सकता है, (एकत्वम्) एक भाव, (अनुपश्यतः) सदैव देखने वाले के लिये।

भावार्थ—ऊपर के मन्त्र ६ के अनुसार तो सब को अपने समान देखने के भाव से पृथक्ता भी हो सकती है। परन्तु इस मन्त्र ७ में सम भाव ही नहीं, सबका एक भाव बतलाया है। सब में अपने आपको और अपने आप में सब को समझने वाले को तो एकत्व ही मानना पड़ेगा। अतः यह मन्त्र ७ स्पष्ट रूप से बतलाता है कि समस्त चराचर जगत् में सम भाव ही नहीं एक भाव ही है। अर्थात् सब अलग अलग और सब एक दूसरे के दुःख-सुख में एक सा ही दुःख सुख प्रतीत करने वाले नहीं किन्तु एक ही हैं। उनमें शरीर भेद के कारण आत्म भेद नहीं है। शरीर रूपों से विभक्त व्यक्तियों में भी वह अविभक्त रूप से विद्यमान् है। अतः ऐसे आत्मज्ञानी जिज्ञासु को न तो कभी मोह, और न कभी शोक हो सकता है। मोह तो अपने पास रहती हुई अपने से पृथक् वस्तु में ममता के कारण होता है और शोक उस वस्तु के चले जाने पर होता है परन्तु और मेरापन अपने से अभिन्न वस्तु में कहाँ ? जब वह वस्तु स्वयं मैं ही हूँ तो उसे 'मैं' के स्थान पर 'मेरा' कहने का अवसर ही कब आवेगा ? और जब कोई वस्तु अपने से अलग ही नहीं तो वह जुदा किस प्रकार हो सकती है ? और जब वियोग ही असंभव है तो शोक क्योंकर हो सकता है ?

समभाव और एकभाव में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि समभाव में घृणा और द्वेष तो नहीं हो सकते। परन्तु मोह और

शोक हो सकते हैं। परस्पर प्रेमभाव रखने वाले दो व्यक्तियों के संयोग में मोह और वियोग में शोक हो सकता है। परन्तु एकत्व में जहाँ दो हैं ही नहीं, तो वहाँ पर संयोग और वियोग की असंभावना क कारण मोह और शोक भी नहीं हो सकते और न घृणा तथा द्वेष की संभावना हो सकती है। अतः आत्मा के ज्ञान में समभाव से भी आगे एकभाव का साक्षात्कार करना आवश्यक है। इसीलिये मंत्र ७ में मन्त्र ६ की अपेक्षा आत्मज्ञान के स्वरूप को और अधिक घनिष्ट कर दिया है।

इसके आगे मन्त्र ८ द्वारा आत्मा के सर्वव्यापक रूप में उसके निराकार निर्विशेष आदि होने के अन्य लक्षण भी बतलाये हैं जिससे कि आत्मज्ञान में सब प्रकार की पूर्णता आ जावे।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्,
अस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम् ॥
कविर्मनीषी: परिभूः स्वयम्भूः
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

शब्दार्थ—(स) वह, (पर्यगात) सब ओर व्यापक, (शुक्रम्) प्रकाशवान्, (अकायम्) सूक्ष्म शरीर रहित, (अव्रणम्) क्षत रहित अर्थात् जो सब प्रकार स्वस्थ और पुष्ट है, (अस्नाविरं) जिसके नाड़ी शिरा आदि न हों अर्थात् स्थूल शरीर रहित, (शुद्धं) निर्मल (अपापविद्धम्) जिसमें किसी प्रकार के पाप का लेश भी नहीं, (कविः) सर्वोत्कृष्ट ज्ञान वाला, (मनीषी) अत्यन्त विचारशील, (परिभूः) सबके चहुँ ओर रहने वाला, (स्वयंभूः) अपने में स्वयं रहने वाला, अजन्मा, (याथातथ्यतः) ठीक-ठीक न्याय

पूर्वक, (अर्थात्) पदार्थों को, (व्यदधात्) विधिवत् देने वाला, न्यायपूर्वक व्यवस्था करने वाला, (शाश्वतीभ्य) निरन्तर, सदैव, (समाभ्यः) वर्षों के लिये।

भावार्थ--आत्मा के यथार्थ और पूर्ण ज्ञान के लिये आत्मा का और भी अधिक व्यापक रूप इस मंत्र द्वारा इस प्रकार बतलाया गया है कि जो आत्मा सब के शरीरों में अलग-अलग व्यष्टि रूप से और सर्वत्र समष्टि रूप से ओतप्रोत है वह प्रकाश स्वरूप है अर्थात् प्रकाश के रूप में सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है। वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों प्रकार के शरीरों से रहित, निराकार है। अकायम् से अभिप्राय सूक्ष्म शरीर रहित होना है, नाड़ी शिरा आदि से रहित का अभिप्राय स्थूल शरीर से रहित होना है और शुद्धम् तथा अपापविद्धम् से अभिप्राय कारण शरीर से रहित होना है, वह मल, विक्षेप और आवरण रहित है। उसमें पाप का कोई लेश नहीं. वह कोई कर्म नहीं करता जिससे पाप लग सके अर्थात् सब कुछ करता और कराता हुआ भी अकर्ता है। वह निर्लेप है। आत्मा तथा परमात्मा के इतने लक्षण बतला कर आगे इसी मंत्र में उसको नित्य न्यायकारी भी बतलाया है क्योंकि मंत्र कहता है कि वह निरन्तर भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल में सब के कर्मों के अनुरूप, ठीक-ठीक, न्यायानुकूल पदार्थों को बनाता और देता है अर्थात् न्यायानुकूल सब के कर्मों का फल दिया करता है।

मंत्र १ से ८ तक का सार

मंत्र ४ से ८ तक की व्याख्या द्वारा मंत्र १ और २ का आन्तरिक भाव तथा महात्म्य और भी अधिक समझ में आता है। वह इस प्रकार है कि आत्मा ईश्वर के रूप में सर्वशक्तिमान,

सर्व व्यापक, सर्वज्ञ, निराकार, निर्लेप, निर्विकार न्यायकारी तथा अन्तर्यामी है। ऐसी धारणा जिज्ञासु की होनी चाहिये। वह सर्वज्ञ आत्मा सब की आवश्यकताओं को जानता है कि कौन किस वस्तु का अधिकारी है। नवजात शिशु के लिये, दाँत न होने के कारण, वह दूध का प्रबन्ध कर देता है। शिशु के अनजान होने के कारण माता के हृदय में मोह और ममता उत्पन्न कर देता है कि जिससे उस बेवश बालक का पालन और पोषण भलीभाँति हो सके। फिर क्या वह हमारी सब की सुधि नहीं रखता ? हमको अधिकारी बनना चाहिये जिससे जीवन में अभ्युदय और मृत्यु के पश्चात् मोक्ष प्राप्त हो। ऐसा अधिकारी मन्त्र १ और २ की आज्ञा का पालन करने से ही बन सकता है। मन्त्र १ की आज्ञा है कि ईश्वर सर्वत्र व्यापक होकर जिसको जो कुछ दे रहा है उसे धन्यवाद पूर्वक ग्रहण करो और सन्तोष तथा प्रसन्नता पूर्वक उसका भोग करते हुये किसी दूसरे की वस्तु की ओर लालच की दृष्टि मत रखो। मन्त्र २ में आज्ञा है कि मन्त्र एक में ईश्वर द्वारा मिले हुये ही से सन्तुष्ट होकर सदैव निष्काम और आसक्ति रहित कर्म करते रहो और यदि आत्मा को व्यष्टि रूप से सब में अलग-अलग तथा समष्टि रूप से सर्वत्र व्यापक, सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान्, अन्तर्यामी और न्यायकारी समझते हुये तुम कामना रहित कर्म करते रहोगे तो संसार और स्वर्ग के सुखों की क्या गणना, मोक्ष का परमानन्द ही तुमको प्राप्त हो जाएगा। परन्तु निष्काम कर्म तब ही समझना चाहिये जब कि मोक्ष और परमानन्द की प्राप्ति की इच्छा भी कर्म करने में प्रेरक न हो। कर्म करने की प्रेरणा, ईश्वर की आज्ञा पालन करने की कर्तव्य बुद्धिद्वारा होनी चाहिए। मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाला तो ईश्वर है जो आत्मा के

रूप में सब के भीतर बिराज रहा है और सब को सब कुछ देता है, जो परभूः होने के कारण सब की सुधि लेता है और रक्षा करता है। जो सब का सुहृद है और जो एक अभक्त और ईश्वर तथा आत्मा में विश्वास न रखने वाले के प्रति भी द्वेष नहीं रखता, परन्तु न्यायकारी है और सब को सब के अधिकारानुसार सब कुछ देता है। जिज्ञासु को आत्मा और ईश्वर का ऐसा सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। अन्यथा वह अपनी आत्मा का हनन करेगा अर्थात् आत्मज्ञान से वंचित रहेगा और मंत्र ३ के अनुसार आसुरी योनियों को प्राप्त होगा और घोर नरक की यातनाओं को भोगने के लिये विवश होगा।

उपनिषद् के प्रारम्भ में ही जगत् को जड़, नाशवान्, परिवर्तनशील तथा गमनशील बतलाया है। जगत् शब्द का अर्थ ही गमनशील है। जो सदैव गतिमान् रहे, कभी स्थिर न रहे वही जगत् है। चलायमान् होने के कारण इसके प्रत्येक अवयव में सदैव उत्पत्ति और नाश के चिह्न दिखाई पड़ा करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि जगत् के प्रत्येक अवयव के लगातार उत्पत्ति और नाश के कारण ही जगत् में गति प्रतीत होती रहती है। इसके अवयव उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं, जगत् न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है अपितु वह प्रवाह रूप से अनादि से ऐसा ही चला आरहा है और ऐसा ही चलता रहेगा। चलने और गतिमान् होने के लक्षण भी इसमें प्रतीत ही होते हैं और प्रतीत का कारण इसके अवयवों का प्रतिक्षण जन्म मरण ही ऐसी प्रतीति का कारण है। इसका एक उदाहरण वर्तमान काल में बिजली की रोशनी ने हमारे सामने रख दिया है। वह यह है कि उत्सवों के अवसरों पर मकानों के ऊपर बिजली की रौशनी के बल्वों की एक गोलाकार अथवा सीधी लायन चलती हुई दिखाई पड़ा

करती है। यथार्थ में वह लाइन चला नहीं करती, उसमें लगे हुये रोशनी के बल्व प्रतिक्षण एक दूसरे के पश्चात् बुझते और प्रकाशित होते रहते हैं जिससे उनकी लाइन में गति दिखाई पड़ा करती है। इसी प्रकार इस जगत् में प्रत्येक वस्तु के, बिजली के बल्वों की तरह, जन्म लेते हुये (प्रकाशित होते हुये) और मरते हुये (बुझते हुयें) स्वभाव के कारण जगत् गतिमान् दिखाई पड़ता रहता है।

अतएव हमारे सामने एक ओर तो ईश्वर और जगत् का अस्तित्व है और दूसरी ओर जगत् में प्रतिक्षण होने वाली जन्म और मरण की घटनाऐं हैं। दोनों ओर हमारा क्या कर्तव्य है इस सम्बन्ध में यह उपनिषद् आगे के मंत्र ९,१०,११ द्वारा तो विद्या और अविद्या के नाम से आत्मा (ईश्वर) और जगत् के प्रति, एवं मन्त्र १२, १३, १४ द्वारा सम्भूति और असम्भूति के नाम से जगत् में प्रतिक्षण होने वाले उत्पत्ति और विनाश की ओर हमारी कर्तव्यता का उपदेश देती है जिस पर मनुष्य को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते

ततोभूय इव ते तमो य उ विद्याया॰ रताः ॥९॥

शब्दार्थ—(अन्धं) घोर, (तमः) अन्धकार में, (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं, (ये) जो, (अविद्या) केवल जगत् की, (उपासते) उपासना करते हैं, (ततः) उससे भी, (भूयः) अधिक, (इव) मानों, (ते) वे, (तमः) अन्धकार में जाते हैं (ये) जो (उ) कि (विद्यायां) केवल आत्म-ज्ञान अथवा निराकार ईश्वर की उपासना में (रताः) लगे रहते हैं।

भावार्थ—ईश्वर और जगत्, अथवा कहिये, आत्मा और देह दोनों ही ओर जीवात्मा को ध्यान देना है। उसको दोनों ही का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। इन दोनों ज्ञानों में आत्मा तथा ईश्वर के ज्ञान को विद्या और जगत् तथा देह के ज्ञान को अविद्या कहा है। यहाँ पर अविद्या का अर्थ अज्ञान नहीं है प्रत्युत नीची कोटि का ज्ञान है। अविद्या को दूसरे शब्दों में अपरा विद्या और विद्या को परा विद्या कहते हैं। संसार का ज्ञान जिसमें संसार और भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में समस्त शारीरिक, मानसिक, वैज्ञानिक, आर्थिक तथा मानसिक जानकारी होना, रेल, बिजली, हवाई जहाज, हाइड्रोजनबम इत्यादि का ज्ञान सम्मिलित हैं, सब अपरा विद्या हैं जिसे इस उपनिषद् में अविद्या कहा है और आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान को जिसे पराविद्या कहते हैं विद्या के नाम से पुकारा है। यह मन्त्र उपदेश करता है कि जो केवल जगत् के ज्ञान की प्राप्ति की ओर प्रयत्नशील रहते हैं और जगत् की उपासना में रत रहते हैं तथा जगत् के चमत्कारों में आनन्द की प्रतीति करते रहते हैं वे घोर अन्धकार में जाते हैं क्योंकि वे आत्मज्ञान से वंचित रहकर मुक्ति के अधिकारी नहीं बन पाते। वे प्रकृतिलय की कोटि तक पहुँच सकते हैं परन्तु ब्रह्मलय के पद को नहीं प्राप्त कर सकते। यहाँ पर अंधं तमः से संकेत मन्त्र ३ में बतलाये हुए 'असुर्य्या नाम ते लोकाः' की ओर है अर्थात् वे असुरों के निवास योग्य लोकों को जाते हैं। उसी के साथ इस मन्त्र द्वारा यह भी उपदेश दिया गया है कि जो जगत् की ओर अपने आवश्यकीय और शास्त्रोक्त कर्तव्य के पालन में प्रमाद करते हुए, केवल ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए ही तन, मन से लगे रहते हैं वे अपरा विद्या वालों से भी अधिक घोर अन्धकार में जाते हैं। क्योंकि अपरा विद्या वालों को संसार का अभ्युदय तो प्राप्त हो जाता है, वे प्रकृतिलय

के पद तक पहुँच सकते हैं। परन्तु केवल परा विद्या के अभिलाषी न इधर के रहते हैं और न उधर के। उनको न माया मिलती है और न राम। दोनों ओर से मारे जाते हैं। ऐसे जीवों के लिये गुसाईं तुलसीदास ने कहा है:—

ब्रह्मज्ञान उपज्यो नहीं कर्म दिये छिटकाय।
'तुलसी' ऐसी आत्मा घोर नरक में जाय॥

ऐसे जीव अपनी आत्मा का हनन करते हैं, अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनों के सम्यक् ज्ञान से वंचित् रहते हैं।

श्रुतिदेवी का उपदेश है कि न केवल अपरा विद्या से और न केवल परा विद्या से ही जीव का उद्धार हो सकता है। उसे ईश्वर और जगत् दोनों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। मनुष्य के कर्तव्य में कर्म और उपासना दोनों ही का समन्वय होना चाहिए। जगत् और ईश्वर परस्पर सम्बन्धित हैं, अलग नहीं हैं। मन्त्र १ में बतलाया है कि समस्त जगत् ईश्वर से आच्छादित है, सर्वत्र ईश्वर व्यापक है। जहाँ जगत् है वहाँ ईश्वर है। गीता में भगवान् का वाक्य है,—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना"—अर्थात् मैं (ईश्वर) अपने अव्यक्त रूप से सम्पूर्ण जगत् में व्यापक हूँ। अतएव एक को भूलकर केवल दूसरे का स्मरण करना संभव नहीं। ऐसा करना अनिष्ट फल का देने वाला ही सिद्ध होगा। यही भगवान के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों की उपासना है।

अन्यदेवाहुर्विद्या अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे॥१०॥

शब्दार्थ—(अन्यत्) अन्य फल, (एव) ही, (आहुः) कहते हैं, (विद्यया) विद्या से अर्थात परा विद्या से मिलता है,

(अन्यत्) दूसरा भिन्न फल, (आहुः) कहते हैं, (अविद्यया) अविद्या अर्थात् अपरा विद्या द्वारा मिलता है। (इति) ऐसा, (शुश्रुम) सुना है, (धीराणां) विद्वानों को कहते हुये, (ये) जो, (नः) हमको, (तद्) ऐसा, (विचचक्षिरे) बतलाते आये हैं।

भावार्थ—विद्या और अविद्या दोनों की साधनाओं में सहयोग और समुच्चय के सिद्धान्त पर जिज्ञासु शंका करता है कि हम परम्परागत विद्वानों से सुनते आये हैं कि विद्या और अविद्या दोनों के फलों में भेद है। विद्या से एक फल प्राप्त होता है और अविद्या से दूसरा। विद्या द्वारा निःश्रेयस् अर्थात् आत्म-कल्याण होता है और अविद्या (अपराविद्या) से संसार के अभ्युदय की प्राप्ति होती है। ऐसी अवस्था में जो जिस फल को चाहे उसी की ओर अपना अनन्य ध्यान क्यों न दे ?

इस शंका का एक उत्तर तो यह है कि वेद जो ईश्वर वाक्य हैं इस प्रकार भिन्न-भिन्न फल नहीं बतलाते, विद्वानों का ऐसा कहना है और विद्वानों के जो वाक्य श्रुतिसम्मत हों वे मान्य हैं, अन्यथा नहीं। दूसरा उत्तर यह है विद्वानं के इस वाक्य में दोनों के फल भिन्न-भिन्न होते हुये भी, दोनों साधनों के सहयोग और समुच्चय का निषेध नहीं किया है। आशय यह है कि केवल एक साधन के फल को ही लेना पूरा सत्य नहीं है, आधा सत्य है। अकेले एक से अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती, विद्या और अविद्या दोनों के साधनों के सहयोग से अभीष्ट फल प्राप्त होता है जिसे आगे का मंत्र ११ बतलाता है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय॰ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११॥

शब्दार्थ—(विद्यां) विद्या को, (च) और, (अविद्यां) अविद्या को, (च) और, (यः) जो, (तद्) उसको, (वेद) जानता है, (उभयं) दोनों को, (सह) साथ साथ वह (अविद्यया) अविद्या द्वारा, (मृत्युं) मृत्यु को, (तीर्त्वा) पार करके अर्थात् जीत कर, (विद्यया) विद्या द्वारा, (अमृतं) अमृत को, (अश्नुते) भोगता है ।

भावार्थ—पराविद्या और अपरा विद्या दोनों ही का ज्ञान और उसके अनुसार कर्म तथा उपासना आवश्यकीय हैं क्योंकि जगत् के ज्ञान और तदनुसार कर्म एवं उपासना विना मनुष्य का जीवन दुःखमय रहेगा जिसके कारण परमार्थचिन्तन में बाधा और विघ्न उपस्थित होंगे यदि जिज्ञासु इस उपनिषद् के मन्त्र १ तथा २ में बतलाये हुए सिद्धान्तानुसार ईश्वर को सर्वव्यापक और सबका योगक्षेम करने वाला समझकर त्याग और सन्तोष की भावना के साथ, बिना लोभ और लालच के, अपनी आयु भर, संसार में रहता हुआ, निष्काम कर्म करता रहे तो उसको कर्मों का बन्धन नहीं होगा और न उसको कर्मफलों के भोग के लिये पुनः जन्म लेना पड़ेगा । इस प्रकार वह मृत्यु को जीत लेगा । परन्तु मृत्यु के जीत लेने पर भी आत्मज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती । क्योंकि श्रुति का वाक्य है—'ज्ञानादृते न मुक्तिः' अर्थात् आत्मज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होती। अतः जीव संसार के ज्ञान और कर्म द्वारा इस जन्म में अपना जीवन सफल बनाता हुआ कर्म बन्धन से मुक्त होकर आत्मज्ञान द्वारा

अमरता को प्राप्त कर लेता है। ऐसा फल विद्या और अविद्या दोनों के सहकारीसाधन द्वारा मिल सकता है। प्रकृति का सम्यक् ज्ञान और तदनुकूल कर्माचरण अन्तःकरण को शुद्ध, पवित्र और निर्मल करेगा और अन्तःकरण की शुद्धि जीवात्मा को आत्म-ज्ञान की उपलब्धि द्वारा निर्वाणपद का अधिकारी बनावेगी।

मन्त्र ९, १०, ११ में यह दिखलाने के पश्चात् कि आत्मा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिये ईश्वर और जगत् दोनों ही का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है उसके आगे मन्त्र १२, १३ और १४ में यह बतलाया गया है कि जगत् के परिवर्तनशील होने के कारण उसमें जो जन्म (सम्भूति) और मरण (असम्भूति) प्रतिक्षण हुआ करते हैं उनमें भी दोनों ही की ओर ध्यान देना आवश्यक है, केवल एक की ओर ध्यान देना मनुष्य को आत्म-हनन का अपराधी बनाता है।

प्राक्कथन में बतलाया गया है कि यजुर्वेद में जहां से ईशोपनिषद् को लिया गया है मन्त्र १२, १३, १४ पहिले और मन्त्र ९, १०, ११ पीछे आये हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है कि पहिले परिवर्तनशील जगत् के दो धर्म, जन्म और मरण को भलीभांति समझ लेने के पश्चात् ईश्वर और जगत् के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने में सुभीता रहता है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥१२॥

शब्दार्थ–(अन्धं) घोर, (तमः) अन्धकार में, (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं, जो (असम्भूतिं) विनाश अर्थात् मरण की,

(उपासते) उपासना करते हैं। (ततः) उससे, (भूयः) अधिक, (इव) मानों, (तमः) अन्धकार में, (ये उ) वे प्रवेश करते हैं जो केवल (सम्भूत्यां) जीवन में, (रताः) श्रद्धा रखते हैं।

भावार्थ—इसमंत्र में भी (अन्धंतमः) (घोर अन्धकार) शब्द द्वारा, मंत्र ३ में असुर्य्या नाम अन्धकार से आच्छादित असुरी लोकों की ओर संकेत किया गया है। भौतिक जगत् में पदार्थ की उत्पत्ति (सम्भूति) और विनाश (असम्भूति) दोनों एक चिरन्तन शाश्वत् जीवन की दो घटनाऐं हैं जो सदैव होती रहती हैं। उदाहरण के रूप में काल का कोई आदि और अन्त नहीं। दिन, रात, महीने, वर्ष आदि उसके अवयव हैं जो आते जाते रहते हैं अर्थात् उनमें सम्भूति के लक्षण दिखाई पड़ते रहते हैं परन्तु काल जैसे का तैसा बना रहता है। वह नित्य है और उसके अवयव दिन, रात्रि आदि अनित्य हैं। उसी प्रकार आत्मा नित्य, अनादि और अनन्त है। उसका देह धारण करना सम्भूति और देह त्यागना असम्भूति की उपाधियां हैं। वास्तव में जीवन तो नित्य है मरण उसका बन्धन है। यदि मरण न हो तो जन्म की भी आवश्यकता नहीं रहती और जीव अपने जीवन ही में मुक्त हो जाता है। श्रुति का वचन है कि 'मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्' तथा 'मृत्योर्मामृतं गमय' अर्थात् जीव को प्रार्थना करनी चाहिये कि हे भगवन् मुझको मृत्यु के बन्धन से छुड़ाओ और जीवन की अमरता प्रदान करो।

जन्म और मरण देह के धर्म हैं आत्मा के नहीं। मुक्ति पर्यन्त देह के इन दोनों ही धर्मों की उपासना आवश्यक है। जो उपासक केवल ऐसी साधना करते रहते हैं कि उनकी मृत्यु सुखपूर्वक हो वे घोर अन्धकार की ओर जाते हैं क्योंकि सुखपूर्वक मृत्यु होने

से भी पुनर्जन्म न होना संभव नहीं और जो केवल पुनर्जन्म न होने के लिये तो उपासना करते हैं परन्तु अपने वर्तमान जीवन को शान्ति पूर्वक बिताने की ओर, जिससे मरण सुखपूर्वक हो, ध्यान नहीं देते वे मृत्यु रूपी संसार के बन्धन से नहीं छूटते और जन्म मरण के चक्र में ही घूमते रहते हैं। उनको न इस जन्म में सुख मिलता है और न मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म के अभाव की संभावना रहती है। यह दशा केवल सम्भूति के उपासकों की होती है। वास्तव में मृत्यु वह है जिसमें एक बार मर कर पुनः न मरना पड़े और जन्म वह है जिसमें एक बार आकर फिर जन्म न लेना पड़े। संसार से विरक्त रह कर मृत्यु के कष्टों से तो बच जाते हैं परन्तु उनकी यह स्थिति भी प्रकृतिलय पुरुषों की स्थिति होती है, मुक्त जीवों की स्थिति नहीं होती। परन्तु जो अपने वर्तमान जीवन में देह के धर्मों का समुचित पालन न करते हुये इसी जीवन में जीवन्मुक्ति की उपेक्षा करते हुये देहावसान के पश्चात् विदेह मुक्त होने का प्रयत्न करते रहते हैं उनको न जीवन्मुक्ति मिलती है और न विदेह मुक्ति। वे दोनों ओर के लाभ से वञ्चित रहते हैं। गीता का वचन है :—

> क्लेशो ऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्
> अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।

अर्थात् देहधारियों को देहाभिमान त्याग कर अव्यक्त गति के लिये विदेह उपासना अधिक क्लेश कारक सिद्ध होती है। इस सम्बन्ध में पाठकों का ध्यान पुनः मंत्र १ तथा २ की ओर आकर्षित किया जाता है। मंत्र १ 'ईशावास्यमिदं इत्यादि' का आशय विद्या और अविद्या दोनों की उपासना का संकेत करता है और मंत्र २ 'कुर्व्वन्नेवेह इत्यादि' जीवन में निष्काम

कर्म करते हुये जीवन्मुक्ति और तत्पश्चात् विदेहमुक्ति प्राप्त करने का मार्ग बतलाता है।

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्
इतिशुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥१३॥

शब्दार्थ—(अन्यत) अन्य, (एव) ही फल, (आहुः) विद्वान् कहते हैं, (संभवात्) सम्भूति से होता है, (अन्यत्) दूसरा, (एव) ही फल, (आहुः) कहते हैं, (असम्भवात्) असम्भूति से होता है, (इति) ऐसा, (शुश्रुम) हमने सुना है, (धीराणां) विद्वानों के वाक्यों में, (ये) जो (नः) हमको (तद्) उसका (विचचक्षिरे) उपदेश देते रहे हैं।

भावार्थ—श्रुति का यह निश्चित सिद्धान्त होते हुये भी कि उत्पत्ति और विनाश, दोनों में से केवल एक की ओर ध्यान देना और दूसरे का विस्मरण करना अनिष्टकारक-है फिर भी मनुष्य केवल एक का ही व्यसन रखते हैं। उसका कारण यह है कि विद्वानों के परम्परागत ऐसे उपदेश हम संसार में सुनते आये हैं कि दोनों के अलग-अलग फल होते हैं। अतः जो जिस फल को चाहता है उसकी ओर झुक जाता है। परन्तु यह समझना कि दोनों के अलग-अलग फल होते हैं मन्त्र के उपदेश को अधूरा समझना है। अलग-अलग फल भी उसी अवस्था में उपयोगी होगा जब कि दोनों को साथ रखते हुये दोनों की ओर ध्यान दिया जावे। यह उपदेश अगले मन्त्र द्वारा मिलता है।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

शब्दार्थ—(सम्भूति) उत्पत्ति को, (च) और (विनाशं) विनाश को (च) और, (यः) जो (तद्) उनको (वेद) जानता है, (उभयं) दोनों को (सह) साथ-साथ, वह (विनाशेन) विनाश के ज्ञान से मृत्यु को (तीर्त्वा) जीत कर, (सम्भूत्या) उत्पत्ति के ज्ञान से, (अमृतं) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

भावार्थ—ऊपर बतलाया गया है कि उत्पत्ति और विनाश दोनों का एक ही जीवन तत्व से सम्बन्ध है। प्रत्येक पदार्थ में उत्पत्ति और विनाश दोनों होते रहते हैं और इन दोनों घटनाओं ही से जगत् चलता हुआ प्रतीत होता है और आत्मतत्व (ईश्वर) भी पूर्ण है। 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' शान्ति मन्त्र का यह पद दोनों को पूर्ण बतलाता हुआ पूर्ण ईश्वर में से ही पूर्ण जगत् की उत्पत्ति तथा उसमें ईश्वर के व्यापक रहने का ज्ञान देता है। इसी पूर्ण जगत् की स्थिति में जहां प्रवाह रूप से तदन्तर्गत पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश की घटनाएं निरन्तर होती रहती हैं। उसके कारण बिजली की बत्तियों की एक घूमती हुई प्रकाशमाला के समान जगत् में भी गति दिखलाई पड़ती है। अतः यह मन्त्र उपदेश देता है कि जिज्ञासु को उत्पत्ति और विनाश दोनों की ओर समान और साथ-साथ ध्यान देना चाहिये। विनाश अर्थात् असम्भूति की घटना से उसको मृत्यु का तत्व और रहस्य मालूम हो जावेगा और वह जान जायगा कि मृत्यु का भय जिसे अभिनिवेश कहते हैं मिथ्या है और सम्भूति अर्थात् उत्पत्ति के सम्यक्

बोध से उसको आत्मा और जगत् में कोई भेद प्रतीत नहीं होगा। उसे सर्वत्र समत्व, एकत्व और पूर्णत्व के चिह्न दिखलाई पड़ेंगे जिसके कारण ऐसा जानने वाला जिज्ञासु, मन्त्र ६ तथा ७ के अनुसार, अपने आपको सब में और सबको अपने आप में प्रतीत करेगा; एवं वह आत्मा का असली स्वरूप जानने में सफल होगा। उसको न किसी से द्वेष होगा और न राग, न मोह होगा और न शोक। किन्तु आयु भर निष्काम कर्म द्वारा नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त करता हुआ मोक्ष का अधिकारी बनेगा। वह इस जन्म में जीवन्मुक्त होकर मृत्यु को जीत लेगा और फिर पुनर्जन्म के चक्र से बच कर विदेहमुक्ति रूपी अमरता को प्राप्त करलेगा।

मंत्र १-१४ में ईश्वर और जगत् का स्वरूप एवं दोनों के सम्यक् ज्ञान के प्राप्त करने की विधि तथा उस ज्ञान की प्राप्ति और अप्राप्ति के फल दिखाने के पश्चात् अगले मंत्रों में यह उपनिषद् बतलाती है कि ईश्वर का अस्तित्व तथा जगत् की सत्यता को जीव क्यों नहीं समझता और ईश्वर की ओर आवश्यक ध्यान न देकर जगत् की अनित्य और नाशवान वस्तुओं में आसक्ति क्यों कर लेता है और जन्म मरण की वास्तविकता की ओर ध्यान नहीं देता ? इसके उत्तर के लिये देखिये मंत्र १५ और १६।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

शब्दार्थ--(हिरण्मयेन) सुवर्ण के, (पात्रेण) पात्र द्वारा, (सत्यस्य) सत्य का (अपिहितं) ढका हुआ है, (मुखम्) मुख

(तत्) उस ढक्कन को, (त्वं) तुम, (पूषन्) पोषण करने वाले ईश्वर, (अपावृणु) हटा दो, (सत्य धर्माय) सच्चे धर्म के (दृष्टये) दर्शन करने के लिये।

भावार्थ—हमको ईश्वर और जगत् का, आत्मा और देह का यथार्थ ज्ञान इस कारण नहीं होता कि सत्य ज्ञान के मुख पर सुवर्ण के पात्र का ढक्कन रखा हुआ है। सुवर्ण के पात्र का यहां पर आशय संसार की धन, सम्पत्ति और भोगों का चमत्कार है। इस चमत्कार ने हमारी बुद्धि के मुख को जिसके द्वारा हम ज्ञान प्राप्त कर सकें ढक रखा है, अर्थात् लोभ, मोह और काम ने जो अज्ञान से उत्पन्न होते हैं हमारे ज्ञान को अच्छादित कर रखा है जिसके कारण हम सत्य धर्म को नहीं देख सकते। गीता में इसी भाव को लेकर अर्जुन ने श्री कृष्ण से प्रश्न किया था कि हम जान बूझ कर भी, पाप क्यों करते हैं, जिस पर श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया था कि इसका कारण रजोगुण से उत्पन्न तृष्णा, लोभ और लालच से भरा हुआ काम है जिसने हमारी इन्द्रियां, मन और बुद्धि को अज्ञान के मैल से मलिन कर रखा है—फिर आगे गीता में उसके दूर करने के उपाय बतलाये हैं। यह उपनिषद् भी इस मंत्र के उत्तरार्ध में उपदेश देता है कि सबके पोषण और रक्षण करने वाले उस तेज और ज्ञानमय ईश्वर से प्रार्थना करो कि हे भगवन्, अपने सच्चे स्वरूप को दिखाने के लिये हमारी बुद्धि के ऊपर से सोने, चांदी क लोभ लालच को अर्थात् सांसारिक भोगविलास की हमारी कामनाओं के अन्धकार को हटा दो जिससे कि हम को आत्मा के व्यष्टि और समष्टि रूपों का पूर्णतया साक्षात्कार हो सके।

प्रार्थना में बड़ा फल होता है, उसमें अपार शक्ति होती है। सच्चे हृदय से प्रार्थना करने पर हृदयगुहा में बैठे हुये भगवान्

चिट्ठी

कभी मंडल
दर- मस्जिद
लेज लगातार
है। तुम ऐसे
न भी देश के
कर्तव्य है कि
फैलाने वाले
ए तुम बच्चों
के कारण है।
म किसी दूसरे
ता होगी।
झाओ। तुम्हें
ी लोग खराब

म्हारी दीदी
मधु

को २०/- रुपये-
टना (बिहार) ☐
र सिंह बडगुजर-
कास सारस्वत-
ोरखपुर ☐ गौरी

मनुष्य प्रारम्भ से ही मनोरंजन
करता रहा है। हां उसके मनोरं
साधन जरूर बदलते रहते हैं।
मनोरंजन के साधनों में विदूषक, नट
पशु-पक्षी रहे हैं। यूनान में प्राची
मनोरंजन हेतु रथों की दौड़ हो
में रस्साकसी होती थी और प्रा
जंगली पशुओं को प्रशिक्षित किया

था।

इन सारे खेलों को देखकर लोगों
बनाया जाये और इसी विचार के साथ
हुआ सर्कस का। दरअसल सर्कस